

## विगत शती के हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यास: कथा रस की कसौटी पर:

डॉ. सुनीता  
राजकीय महिला महाविद्यालय,  
पाली, रेवाड़ी।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रेमचन्द के बाद कोई ऐसा लेखक क्यों नहीं सामने आ सका जिसे सही अर्थों में जनप्रिय कहा जा सके, जिसने पात्रों के साथ पाठकों को गढ़ने का भी प्रयत्न किया हो। क्या कारण है कि कबीर और तुलसी में कवि और पाठक दोनों मिलकर काव्य का निर्माण करते हैं, जबकि प्रेमचन्द के बाद के कथाकार केवल आलोचकों को या यों कहें कि तथाकथित बुद्धिवादियों को प्रभावित करने के लिए लिखते रहे। बाद के कथाकारों ने आम आदमी को पढ़ने या सुनाने के लिए लिखना, एक दम बन्द कर दिया। अज्ञेय ने जो कुछ आज के कवि को लेकर कहा, वह आज के कहानी तथा उपन्यासकार पर भी सही उतरता है। “कवि कर्म किसी भी युग में इतना कठिन नहीं रहा जितना वह आज है, कवि अपने पाठक से इतना दूर कभी नहीं रहा जितना वह आज है।”<sup>1</sup> कबीर और तुलसी की दृष्टि ही दूसरी थी। “कबीर में कवि और पाठक दोनों मिलकर काव्य का निर्माण करते हैं।”<sup>2</sup> कबीर अपने श्रोताओं से सीधे रू-ब-रू हो जाता है। वास्तव में कबीर और तुलसी दोनों अनूठे कलाकार हैं। उनकी कविता सरल भी है और बुद्धजनों द्वारा प्रशंसित भी। यह तुलसी में मिलता है या फिर कबीर में। “कबीर अपने श्रोताओं को सीधे संबोधित करते हैं जिससे श्रोता या पाठक हाषिय पर न रहकर संवाद में सीधे भागीदार हो जाता है”<sup>3</sup>

कहानी और उपन्यास में उल्टा हुआ। उसमें पठनीयता के तत्वों की अवहेलना की गई। उनमें कथारस अनुपस्थित है। सच्चाई तो यह है कि आपने आम आदमी के लिए लिखा ही नहीं। उनका ध्यान आपको रहा ही नहीं। तुलसी ने आम आदमी के लिए लिखा था, कबीर आम आदमी के लिए अपनी वाणी गढ़ते रहे, भारतेन्दू आम आदमी के लिए लिखते थे, लेकिन आप आलोचकों के लिए लिखते हैं। सहगामी मित्रों को हैरत में डाल देने के लिए लिखते हैं, इसलिए अपार हानि हुई। बड़ा गद्य पढ़ने से अरुचि होने लगी। “प्रेमचन्द ने बड़ा गद्य लिखा, पर उन्होंने होरी धनिया को गढ़ने का जितना प्रयत्न किया, इससे अधिक उन्होंने हिन्दी पाठकों को गढ़ने का प्रयत्न किया।”<sup>4</sup> जब की आज के लेखकों को ध्यान इस ओर सब से कम गया। उन्हें एक बात और भी जाननी थी। संचार

क्रांति के बाद सब कुछ पठनीय से अधिक दर्शनीय हो चला है। फिल्मों या टी.वी. सीरियर लोगों को सीधे-सीधे और अधिकाधिक प्रभावित करते हैं।

हमारे लेखकों ने जन-मानस को समझाने की कोषिष ही नहीं की। विदेशों में और हमारे यहाँ बंगाली में इस दिषा की महत्ता को भली-भांति पहचाना गया। यदि जन मानस को भली तरह पहचाना जाता तो षिषु और किषोर साहित्य इतना कम क्यों लिखा जाता? राहुल सांकृत्यापन ने अपने जीवनकाल के अंतिम भाग में बाल और किषोर साहित्य बहुत बड़ी मात्रा में लिखा, पर उसकी और ध्यान कब गया? हमारे यहाँ श्रेष्ठ जासूसी और अभियान कथाएँ कहाँ लिखी गई? श्रेष्ठ साईंस फिक्षन कहाँ रचा गया? क्राइम फिक्षन की ओर ध्यान कब गया? उनके सरस्ते रूप भले ही छपते रहे हो। यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि कथारस के अभाव में प्रेमचन्द उतने जनप्रिय नहीं हो सकते थे जितने हुए। हिन्दी में बड़े गद्य को पढने के अभ्यास का षिलान्यास प्रेमचन्द ने नहीं, देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी ने किया है। हमारे यहाँ के लेखकों ने सस्पेंस और सरप्राइज की महत्ता पहचानी ही नहीं। उसे घटिया मानते रहे। परिणाम? जनप्रिय षिषु तथा किषोर साहित्य तो एकदम नदारद।

हिन्दी उपन्यास हाषिये पर जाने लगा। एक ओर तो राजनीतिक क्षेत्र में प्रतिपल प्रतिष्ठा प्राप्त करते प्रजातंत्र ने और दूसरी ओर आर्थिक क्षेत्र में उपस्थित होने वाले चतुर्दिक औद्योगिकरण ने वातावरण बदल दिया। उपन्यास कैसे अछूता रह जाता। कहानी और उपन्यास तो विद्या ही ऐसी है जो जीवन के अधिकाधिक समीप रहती है। डॉ० नामवर सिंह की शब्दावली में **“सन् 1980 के आस-पास उपन्यास रचना में विस्फोट हुआ।”**<sup>5</sup> कई बातें एक साथ गुजरी- संख्या में अधिकाधिक उपन्यास का रचा जाना, लगभग सभी उपन्यासों की रचना शैली का नया रूप धारण करना और अधिकाधिक संख्या में महिला उपन्यासकारों का सामने आना। **“सभी विचारकों ने माना कि उपन्यास विद्या का फलक विस्तृत हुआ है, हमने जीवन की जटिलता, परिवेष से ही नहीं, अपने समय के इतिहास से भी टकराना शुरू किया है। हम इतिहास में खो नहीं गए हैं। इतिहास के बीच से हमने अपने लिए मानव-संघर्ष, नियति एवं उसके जय-पराजय का अर्थ भी ढूँढा है।”**<sup>6</sup> एक से अधिक उत्कृष्ट कोटि के उपन्यास देखने को मिले- कृष्णा सोबती के “मित्रों परजानी” तथा ‘सूरजमुखी अंधेरे के’ ऊषा प्रियवंदा के, ‘पचपन खंभे लाल दीवारे’ तथा ‘रुकोगी नहीं राधिका’, मेहरुन्निसा परवेज का, ‘अकेला पलाष’ मंजूल भगत का ‘अनारों’ मृदुला गर्ग का ‘चितकोबरा’ तथा ‘कठगुलाब’ नासिरा

शर्मा का 'शाल्मली' पुष्पा मैत्रेयी का 'चाक', भीष्म साहनी का 'तमस' अमृतलाल नागर का 'नाच्यो बहुत गोपाल', राही मासूम रजा का 'आधा गांव', अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'झीनी बीनी चदरिया', कृष्ण बलदेव वैद का 'नर-नारी', विष्णु प्रभाकर का 'अर्धनारीष्वर' आदि।

हमारे पाठक को सर्वाधिक आकृष्ट करता है विदेशी जनजीवन। विदेशों में एक तो जिंदगी जीने की गति अत्यधिक तीव्र रहती है और दूसरे वहां जीवन के कई ऐसे रूपों में रुचि प्रदर्शित कर देते हैं। विदेशों के प्राचीन संस्कारों में पले-बढ़े पाठक को आश्चर्यचकित कर देते हैं। विदेशों में कुछ घटनाएं वस्तुतः ऐसी घटित होती हैं जो आदमी को हैरत में डाल देती हैं। फ्रांस की राज्य क्रान्ति उसका महत्वपूर्ण प्रमाण है। बलवन्त सिंह ने जुलू लोगों के जीवन का, जनजीवन का, वर्णन किया है। वह भी कम आश्चर्यजनक नहीं लगता। नासिरा शर्मा ने ईरान में होने वाली क्रान्तियों का वर्णन किया है। नायक के रूप में सात महिलाओं को चुना है और सभी सजग जीवन जीती हैं। उनमें सर्वाधिक आकृष्ट करती हैं। तययूबा। उस पर अत्याचार भी कम नहीं किए जाते।

यदि आंखें खुली रखी जाएं, किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से परिचालित न हुआ जाये तो जिन्दगी में बहुत ऐसी घटनाएं घटित होती दिखेंगी जो एकदम आकृष्ट कर लेती हैं। पल भर को दर्षक अपने अस्तित्व को भूल जाता है। घटनाक्रम में उपस्थित होने वाली हलचल में डूबने-उतरने लगता है। हिन्दी में इस प्रकार की विषेयता उपस्थित करने वाले कई उपन्यास रचे गए हैं। हीजड़ों पर सभी लोग कुछ न कुछ जानना चाहते हैं। वृहन्नला उसका हिन्दी का एकमात्र उदाहरण है। संपूर्ण उपन्यास रचा ही उन लोगों पर गया है। पशु जीवन पर हिन्दी में बहुत कम लिखा गया है। इस क्षेत्र में अदभुत सफलता मिली है हृदययेष को। सांड की आकृति तथा व्यवहार हूबहू वर्णन भी हृदययेष ने किया है। कुछ प्रदेशों में लोग विचित्र प्रकार का जीवन जीते हैं। हमारे से उनका आचरण सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। एकदम चौंका देने वाला। 'सफेद मैमने' उसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

कुछ ऐसे विषय हैं जिनसे सम्बन्धित वर्णनों को खुल्लेआम पढ़ने से लोग हिचकिचाते हैं। मां-बाप या घर के बुढ़े-बुढ़ियों से छिपाकर ये रचनाएं पढ़ी जाती हैं। विशेषतः किषोरावस्था में हिन्दी में कुछ लेखकों ने इसी प्रकार की रचनाएं उपस्थित करने का साहस किया है। उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है राजकमल चौधरी का उपन्यास मछली मरी हुई इस उपन्यास में दो महिलाओं का आपस में संभोगरत दिखाया गया है।

भारतवर्ष में आदिवासी तथा जनजातियों की संख्या 450 बताई जाती है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजातियां कुल जनसंख्या का 9.55 प्रतिशत है। इन जनजातियों के प्रति आज से लगभग 15–20 वर्ष पूर्व तक दृष्टिकोण विचित्र प्रकार का रहा। जनजातियों के आचरण को विलक्षणता की दृष्टि से देखना। उन्हें अजायबघर की वस्तु मानना। सस्ते मनोरंजन के लिए उनके रहन-सहन आदि में अनेकानेक इसी कोटि के व्यवहार ढूंढना। पर स्वातंत्रयोत्तर काल में जैसे-जैसे औद्योगिक परियोजनाओं की संख्या बढ़ी, विस्तार बढ़ा, तो जनजातियों के शोषण ने प्रमुखता धारण कर ली।

हर्ष तथा संतोष का विषय है कि विगत दो दशकों में हिन्दी लेखकों का ध्यान आदिवासी तथा जनजाति जीवन की ओर आकृष्ट हुआ है। परिणामस्वरूप उत्कृष्ट कोटि के कितने ही उपन्यास तथा कहानी-संग्रह सामने आए हैं। जनजातियों की परम्पराओं को, सामाजिक सांस्कृतिक विलक्षणताओं को, उनके बुनियादी सामाजिक ढांचे को संवेदनशील ढंग से, पूर्ण आदर के साथ उपस्थित करने वाली रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। सर्वाधिक रचनाएं गोंड आदिवासियों पर लिखी गई है— राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यास जंगल में फूल तथा सूरज किरण की छांव, उराव जनजाति का उपन्यास मनमोहन पाठक का गगन घटा गहरानी मुंडा जाति का उपन्यास संतोष प्रीतम का समर शेष है। बम्बई के कोलियों पर उदयशंकर भट्ट का सागर, लहरें तथा मनुष्य और राजधानी जनजाति करनटों पर रागेय राघव का कब तक पुकारूं इत्यादि। झारखण्ड के कोयलाचल पर दो उपन्यास सामने आ चुके हैं— रमणिका गुप्त के सीता और मौसी।

जनजातियों के बाद भारतीय समाज में महत्ता धारण करती है अनुसूचित जातियां। उनकी संख्या 443 है। जनजातियां तो फिर भी सुदूरवर्ती तथा दुर्गम स्थलों की हुईं, किन्तु अनुसूचित जातियां तो जन सामान्य के, सदा साथ-साथ रही हैं। उनके प्रति भी हिन्दुओं की सामाजिक उदासीनता देखने योग्य है। प्रत्येक जाति का अपने समूह में बन्द रहना। खान-पान तथा बहू-बेटी का संबंध एकदम अलग। ऊपर से अस्पृश्यता का प्रचार-प्रसार। इसी कमी के कारण बिन्दुओं को कष्ट भी कम नहीं उठाने पड़े। सन् 1193 में पृथ्वीराज चौहान पराजित हुआ, सन् 1194 में काषी का पतन हुआ और सन् 1196 में बंगाल हाथों से निकल गया। क्या विदेशी आक्रमणकारी बहुत बड़ी संख्या में आ टूटे थे

क्या उनके पास इतने द्रुतगामी साधन थे कि पांच-छह साल की अवधि में ही दिल्ली से बंगाल तक छा गए? वास्तव में हुआ यह कि हिन्दू लड़े ही नहीं। कविवर रामधारी सिंह दिनकर ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' में ठीक ही कहा है— **हिन्दू हारे कहां, वे लड़े ही नहीं।**

वास्तव में हिन्दुओं ने जिस सामाजिक उदासीनता का परिचय दिया, उसकी दूसरी मिसाल विष्व भर में इतिहास में नहीं मिल सकती। समाज के एक चौथाई भाग को जीवन की सुख-सुविधाओं से ही वंचित नहीं कर दिया, उन्हें सम्मानपूर्वक जीने भी नहीं दिया। समाज सुधार के प्रयत्न किये भी गए तो उन्हें वांछित सफलता नहीं मिल सकी। इस संबंध में बाबा साहेब अम्बेडकर ने जो कुछ कहा, वह अक्षरशः सत्य है— **भारत में समाजसुधार का मार्ग स्वर्ग के मार्ग के समान दुरूह है। वह सुधारक जो समाज का विरोध करता है, उस राजनीतिज्ञ से अधिक साहसी होता है जो सरकार का विरोध करता है।**

ईसाइयों तथा ईसाइयत के आगमन से पूर्व हिन्दू समाज अपने क्रूरताओं तथा कुरीतियों की चपेट में आ चुका था— भ्रूण हत्याएं, बालिकाओं का वध, सती प्रथा, विधवा विवाह, निषेध तीर्थों में व्यभिचार के अड्डे घोर अस्पृश्यता, घोर जातिवाद और घोर सामाजिक उदासीनता। इन सब से ऊपर था इनमें से किसी के भी रोक जाने को धर्म-विरुद्ध मानना। आज यह जानते तथा मानते हैं कि ईसाइयों तथा ईसाइयों के सम्पर्क के कारण ही इस भांति-भांति की कुरीतियों की ओर ध्यान जा सका। पं० जवाहरलाल नेहरू ने इसी को बाहर की ओर वातायन का खुलना कहा था। (संस्कृति के चार अध्याय की भूमिका)

ईसाइयत ने हिन्दु धर्म के मर्म पर भी चोट की उसकी दुखती रंग को छुआ। हिन्दु दृष्टि पर छाए हुए निवृत्तिवाद के धुंध को पहचानना। उसे भी परम पद का एक मार्ग माना यह सब ईसाइयत का ही प्रभाव था कि कितनी ही लोक कल्याणकारी व्यवस्थाएं सामने आईं— स्कूली शिक्षा, अस्पताल निर्माण, नर्स-सेवा आदि। इतना अवष्य है कि भारतीयों ने इस सबकी कीमत चुकानी पड़ी। कीमत थी— पूर्वान्तर सीमा पर अतिरिक्त संवेदनशीलता का उत्पन्न हो जाना। पूर्वोत्तर सीमा पर व्याप्त संवेदनशीलता को महज आर्थिक पिछड़ेपन की देन नहीं कहा जा सकता। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के इतने दिनों बाद भी मुसलमानों के मुख्य धारा से न जुड़ पाने को उनके आर्थिक- शैक्षिक पिछड़ेपन की देन नहीं कहा जा सकता। इन सबका एक राजनैतिक पहलू भी है।

भारतीय जीवन में मुस्लिम महत्ता की ओर से आंखे नहीं मूंदी जा सकती। अकेले उत्तर प्रदेश की 85 सीटों में से 30 का निर्णय मुस्लिम वोटों पर निर्भर करता है। दैनिक व्यावहारिक जीवन में तो मुस्लिम देन इससे कहीं अधिक महत्ता धारण कर चुकी है। दैनिक जीवन के अनेकानेक शब्द उनकी देन हैं। यदि अरबी-फारसी-उर्दू के क्रिया-विषेषण को निकाल दिया जाये तो हिन्दी में लोच कहां बचा रहेगा? स्वातन्त्रयोत्तर काल में कितने ही ऐसे मुस्लिम लेखक सामने आ चुके हैं जिनकी रचनाओं की साहित्यिक उत्कृष्टता के सभी कायल हैं— राही मासूम 'रजा' गुलषेर खां 'षानी' अब्दुल बिस्मिल्लाह, बदीउज्जमा आदि। जहाँ तक प्रश्न है नारी-समाज का भले ही मुस्लिम समाज में व्याप्त निरक्षरता, गतानुगतिकता, अंधविश्वास, बहुविवाह तथा संतानाधिक्य आदि ने मुस्लिम नारी को संभलने का अवसर नहीं दिया है, पर फिर भी कुछ ऐसी लेखिकाएं सामने आई हैं जिनकी रचनाएं किसी भी हिन्दी रचना से टक्कर ले सकती हैं— मेहरुन्निसा परवेज का उपन्यास 'पलाषवन' और नासिरा का 'षाल्मली'। सफल मुस्लिम रचनाओं में विद्यमान मिलने वाले कथा-रस के एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत की ओर भी ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। सुप्रसिद्ध साहित्यकार तथा सम्पादक राजेन्द्र यादव के शब्दों में दलित, स्त्री और अल्पसंख्यक लेखकों की रचनाएं इन्द्रियजन्य (एम्पिरिकल) अधिक होती हैं। और शेष की वैचारिक या बौद्धिक (रीरिब्रिल) गैर-दलितों की कहानियां, इसी कारण, इल्मी अधिक होती हैं। ऐन्द्रिक संवेदनाओं और सामाजिक अनुभवों से उपजी सांसारिक कहानियां गैर-दलितों, अल्प संख्यकों तथा महिला कलाकारों की ही अधिक मिलेगी। (हंस, अगस्त 2001 पृ0 67)

जीवन में समय के साथ परिवर्तित न हो, यह असंभव है। यह बात दूसरी है कि कभी तो परिवर्तन की गति इतनी धीमी तथा सूक्ष्म होती है कि वह आसानी से पकड़ में नहीं आती और कभी ठीक इसके विपरित इतनी तीव्र अर्थात् द्रुतगामी तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अप्रत्याषित हलचल उपस्थित कर देने वाली होती है। आम आदमी आश्चर्यचकित रह जाता है, मुंह बाएं खड़ा रहा जाता है, अपने को असहाय और निरुपाय पाता है। धीरे-धीरे दिग्भ्रमित होने लगता है। गत 10-12 वर्षों में भारतीय जन जीवन में इसी प्रकार की हलचल व्याप्त हुई है। पारस्परिक सम्बन्ध के किसी भी रूप को लें, सब कुछ अस्त व्यस्त तथा अनिर्णित सा दिखाई पड़ रहा है। जहाँ तक प्रश्न है नर-नारी के पारस्परिक सम्बन्ध का या इस क्षेत्र में उपस्थित होने वाली उथल-पुथल का, वह कोई भी सुनिर्दिष्ट रूप या दिशा ग्रहण करती नजर नहीं आ रही। वैसे, ऐसा होना था भी असंभव। कारण? कारण यह है कि संसार में यदि सर्वाधिक अस्थिर, चंचल, परिवर्तनशील, चाहे तो उसे विकसनशील कह लें, एक

ही समीकरण है। नर और नारी के पारस्परिक सम्बन्धों का समीकरण। जीवन की परिवर्तनशीलता, गतिशीलता सबसे पहले और सब से अधिक नर-नारी के पारस्परिक सम्बन्ध के किसी स्थायी, सार्वजनिक या सर्वकालिक रूप या हल की सोचना खतरनाक है। जो चिर गतिशील है, उसे रोककर कैसे रखा जा सकता है। ये संबंध नित नवीन रूप में सामने आ रहे हैं— “आधुनिक नारी आधुनिकता और परंपरा के बीच झूलती रह जाती हैं। कभी संस्कार याद आते हैं ता कभी स्वतंत्रता।”<sup>7</sup> कभी ममता का आरोपित रूप दासी बनाए जाने का उपक्रम लगने लगता है—“ पुरुश ने रकाब. का आविस्कार घोड़ों को दास बनाया, वैसे ही नारी को मातृत्व महत्ता से अलंकृत करके, सदा के लिए उसे अपनी दासी बना लिया।”<sup>8</sup>

शैलीगत चमत्कार आकर्षण का कितना बड़ा केन्द्र बनता है, उसके संबंध में संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा। हमने इसके दो रूपों को वर्णन का विषय बनाया है। हमारी धारणा है कि शैलीगत चमत्कार में रुचि रखने वालों के लिए ये दोनों रूप आकर्षण का प्रबल केन्द्र सिद्ध होते हैं। पहले फैंटेसी को लें। सन् 1977 में सुप्रसिद्ध उपन्यासकार बदीउज्जमा ने एक फैंटेसी (प्रतीक कथा) उपस्थित की ‘छठा तंत्र’ के नाम से। आज के सामाजिक जीवन में किस प्रकार का खेल हम सभी, एक दूसरे के विरुद्ध खेलते हैं, उसे चूहों तथा बिल्ली के माध्यम से उपस्थित किया गया है। उस वर्णन का प्राण है व्यंग और वह सर्वाधिक कथा-रस प्रदान करता है। एक चूहों की मौत सन् 1976 में आया। उसके भी लेखक बदीउज्जमा थे। उसमें सरकारी कार्यालयों में व्याप्त वातावरण को व्यंग का आधार बनाया गया है। चूहों के माध्यम से। इस वर्णन में भी कथा रस की कमी नहीं है। हाल ही में अब्दुल विस्मिल्लाह द्वारा विरचित इस कोटि की प्रतीक कथा दंत कथा सन् 1990 में प्रकाशित हुई। नाबदान में अनास फसं जाने वाले मुर्ग के माध्यम से वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की हृदयहीनता को वर्णन का विषय बनाया गया है।

शैलीगत चमत्कार के अन्तर्गत एक रचना प्रसिद्ध आती है ‘ट्रिलोजी अर्थात् खंडत्रयी की रचना। उसमें लेखक तीन रचनाओं में एक ही पात्र समूह के माध्यम से तत्कालीन बदलते परिवेश की कहानी कहता है। शैलीगत चमत्कार का एक रूप प्रकट होता है। सहयोगी लेख में अर्थात् किसी एक विषय पर कई लेखकों का क्रमानुसार कथा को आगे बढ़ाना। इस क्षेत्र में पहला प्रयास किया था। राजेन्द्र यादव तथा मन्नू भंडारी ने। दूसरा प्रयास किया था कविवर अज्ञेय के सुप्रसिद्ध साहित्यिक पत्र प्रतीक ने।

अतः आज वह समय है जब हमें कथा गढ़ने की बजाय कथारस ध्यान देना होगा।

1. अज्ञेय, आत्मनेपद, पृ. 156
2. डॉ. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास पृ. 97
3. डॉ. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास पृ. 51
4. गौतम सान्याल, हंस, अगस्त-सितम्बर 96 पृ. 230
5. गौतम सान्याल, हंस, जनवरी-1999 पृ. 197
6. गौतम सान्याल, हंस, दिसंबर-1999 पृ. 94
7. प्रतिभा पाठक, समकालीन हिंदी-उपन्यास की आधुनिकता, पृ. 233
8. विष्णु प्रभाकर अर्द्धनारीष्वर पृ. 276

